



## सम्पादकीय

### साहित्य के द्वारा शिक्षा

#### आचार्य काका कालेलकर

किसी भी देश का विचार करें तो भी वहां साहित्य की प्रगति विशेष रूप से होती दीखती है। साहित्य के प्रकार बढ़े हैं। साहित्य के क्षेत्र बढ़े हैं। जो विषय साहित्य से परे हैं ऐसा माना जाता था, उन पर भी साहित्य ने कब्जा किया है। सूक्ष्म से सूक्ष्म भाव और अनुभव साहित्य की मारफत व्यक्त होने लगे हैं। पुराने लोगों में भावनाओं का वेग प्रबल था, लेकिन नये लोगों ने तो भावनाओं में अनेक सूक्ष्मताएं विकसित की हैं। मूल तीन या सात रंगों में से जिस तरह आज हम संख्य सम्मिश्र रंग और उनकी छटाएं खिला सके हैं वैसा भावनाओं का भी हुआ है। शुद्धि के उपासक जरूर उसे हीनता की निशानी के तौर पर पहचाने, समाज में जैसे वे संकर पसंद नहीं करते वैसे भावनाओं में भी संकर बढ़े यह उनको सहन नहीं होता फिर भी भावनाओं में संकर बढ़ता ही जाता है। आज का साहित्य उस संकर को पहचान सकता है उतना ही नहीं उसे मान्यता भी देता है और पोसता भी है। और उसमें समाज की अपूर्व सेवा करने का समाधान अथवा अभिमान ग्रहण करता है। उसमें और मनोविश्लेषण नाम के बगैर कुलीनता वाले शास्त्र ने बीच में आकर चित्त की खदानें खोद कर दबी हुई वृत्तियों को भी उलीचना आरंभ कर दिया है, वह शास्त्र वैदक का ढोंग करता है। मानसिक रोगों से मुक्ति देने का दावा करता है लेकिन परिणाम तो वानर के हाथ में जखम सौंपने जैसा आया है। वह कुछ भी हो लेकिन साहित्य ने जीवन के अनेक क्षेत्र खोले हैं और विकसित किए हैं इसमें कोई शक नहीं। फिर भी साहित्य दिन ब दिन गैरजिम्मेदार होता जाता है। अथवा वह साहित्य

का दोष न हो। जीवन में जैसे सामाजिक और आध्यात्मिक अव्यवस्था दाखिल होती जाती है वैसे वैसे साहित्य में भी वह घुस जाएगी। समाज में विचार-स्वातंत्र्य के नाम से चाहे जैसे कच्चे पक्के विचार-वाद चलाते हैं। और मच्छी बाजार में और शेयर बाजार में जो कोलाहल देखने में आता है वही कोलाहल आज विचार-क्षेत्र में दाखिल हुआ है। किसी को कुछ भी विचार सूझा, कल्पना में तरंग उठी कि उसका पैगंबर बन कर उसका प्रचार करता है और उसके विचार तो सुनाने के लिए होते हैं। समाज के समक्ष विचार फेंकने वाला स्वयं ही उसके मुताबिक चलने के लिए बंधा हुआ नहीं है फिर उस विचार का स्वीकार और अमल कौन करेगा ? सभी लोग विचार बोलते हैं, उसकी चर्चा करते हैं और कुल मिलाकर जो कुछ भावना, वासना और कल्पना का क्षणिक मिश्रण प्रेरणा दे उसके अनुसार आचरण कर छूटते हैं। परिणामस्वरूप अमुक प्रसंग पर लोग कितनी श्रेष्ठता बताएं उसका विष्वासपूर्वक कयास करना लगभग अशक्य हो गया है।

ऐसे जमाने में आदर्शों की चर्चा खूब होती है। लेकिन कुल मिलाकर समाज का चारित्र्य पैदा होने के बदले अराजक यानी अव्यवस्था अथवा अनावस्था पैदा होती है।

आज लोग जो सामाजिक सामर्थ्य मांगते हैं सो मुख्यतः चारित्र्य शक्ति का नहीं लेकिन संख्या और संगठन का है। बड़ी बड़ी संख्या में आज मनुष्य जाति इकट्ठा हो सकती है। और स्वार्थ, डर, कुतूहल, द्वेष, लोभ, विलासिता इत्यादि अत्यंत प्राथमिक और संस्कृति की दृष्टि से छिछरी

भावना के आधार पर संगठित होती है। हम यह कहते हैं कि समाज तीव्र गति से प्रगति करता है कल्पना में प्रगति जरूर है , लेकिन प्रत्यक्ष परिणाम में, सामाजिक जीवन में और आदर्श की उपासना में संस्कृति का हास होता स्पष्ट दीखता है।

अनिश्चय और क्षणिक जो श, एकांगी आग्रह और चंचल परिवर्तन आज के साहित्य का मुख्य वातावरण है। यह उसका स्वभाव हो गया है।  
**नासौ मुनिः यस्य मतं न भिन्नम्।** सब से जो अलग नहीं होगा उसको प्रतिष्ठा नहीं मिलेगी। अतः किसका अनुसरण करना , कौन सा विचार ग्रहण करना उसकी सूझ सामान्य समाज को नहीं होती। यदि सब लोग जीवन के प्रयोग अपने आप करने जितनी हिम्मत धारण करेंगे तभी वे बच जाएंगे लेकिन लोगों को तो विचार-क्षेत्र में भी तैयार माल चाहिए। जात-मेहनत से कुछ पैदा नहीं करना। परिणामस्वरूप बीमार की तरह एक के बाद एक पेटेंट दवाएं आजमाते हैं और एक दवा को पूरी तरह आजमाते भी नहीं हैं। दवा के गुण जांचने के बदले उसके विज्ञापन ही देखते रहते हैं। वैसे ही लोग विचार के बारे में करने लगे हैं। एक नेता के पीछे लोग थोड़े दिन गये तो कहने लगे इसमें तो कुछ परिणाम नहीं दीख रहा। अब कुछ नया चाहिए। लेकिन क्यों ? तो कहने लगे कि हमें तो रोज नयी-नयी कल्पनाएं चाहिए। पुराने में रस कैसे आयेगा!  
जिसे कल्पना का रोग चिपका है उसकी दवा अनुभव में रही है। मनुष्य खुद प्रयोग करे , अनुभव ले, उस पर विचार करे और निर्णय बांधे यही रास्ता समाज के लिए हो सकता है। कल्पना के रास्ते असंख्य हैं। कल्पना यानी बुद्धि-भेद। एकता की स्थिरता उस अनुभव के अंत में ही आ सकती है - व्यवसाय करना नहीं है , प्रयोग करने नहीं हैं, अनुभव लेना नहीं है या जांचना नहीं है , जीवन व्यवस्थित करना नहीं है, अनुभव और दृढ़ श्रद्धा की बुनियाद पर जीवन-निर्माण नहीं करना

वैसे लोगों के लिए गीता ने कहा है , बहुशाखा ह्यनंताश्च बुद्धयोऽध्यवसायिनाम्।  
हमारे साहित्य की आज वह दशा है। अतः जीवन को सही रास्ते पर ले जाने की पुरुषार्थ को प्रेरणा देने की, विचार शुद्ध करने की , भावना को पवित्र रखने की और प्रजा का अनन्य विश्वास प्राप्त करने की शक्ति उसमें नहीं रही। आज के साहित्य ने सुंदरता , नवीनता, विविधता और चमत्कारिता की उपासना चलायी है। सत्यता , दृढ़ता, पवित्रता, मंगलता की उपासना छोड़ दी है। अतः पुरानी भाषा में कहें तो आज का साहित्य 'आप्त' नहीं रहा।  
अतः शिक्षा के प्रारंभ में साहित्य पर पहले जैसा आधार नहीं रखा जा सकता। शिक्षा का प्रारंभ अब तो निरीक्षण , परीक्षण, प्रयोग और ध्यान के द्वारा ही होना चाहिए। प्रत्यक्ष कार्य करके, वस्तुएं गढ़ कर के, योजनाएं अमल में रखकर, कल्पनाओं को कार्य के द्वारा कस करके , शिक्षा का प्रारंभ करना चाहिए कि जिससे बुनियाद में कच्चापन न रहे। कमजोरी सुंदर न लगे, आत्मविश्वास पैदा हो और प्रसंग आने पर एकाकी रहने की हिम्मत आए। जैसे शंकराचार्य जी ने कहा कि , "अग्नि शीतल है ऐसे श्रुति के सौ वचन अंकित किए जाएं तो भी हम उनका स्वीकार नहीं करेंगे।" इस तरह अनुभव की शिक्षा लेने वाला मनुष्य कल्पना के माया-जाल में नहीं फंसेगा। एकला रहकर भी वह कहेगा अनुभव ने आज तक मुझे दगा नहीं दिया तो मैं अनुभव को कैसे दगा दूँ। प्राचीन ऋषि की तरह गर्जना कर उठेगा कि मैं सत्य का उपासक हूँ।  
**तद् आत्मनि निरते ये उपनिषत्सु धर्माः ते मयि संतु, माहं ब्रह्म निराकुर्यम्। मामा ब्रह्म निराकरोत् अनिराकरणमस्तु अनिराकरणमस्तु।**

(राष्ट्रीय शिक्षा का आदर्श)